महानता की खोज में

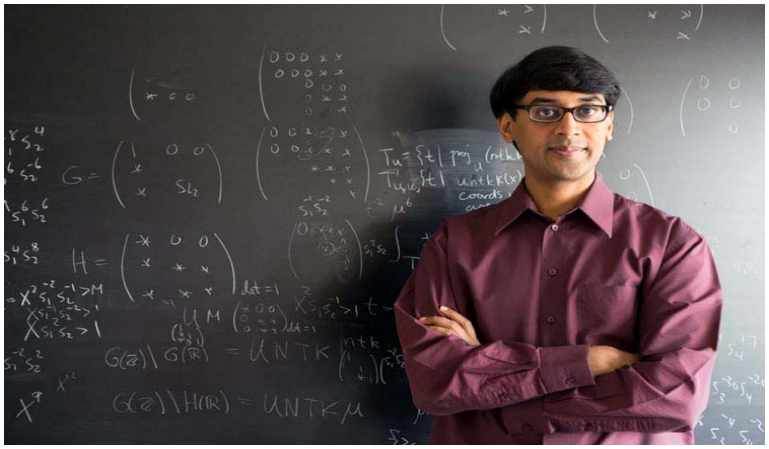

नोबेल पुरस्कार के समकक्ष अलग-अलग क्षेत्रों में दिए जाने वाले पुरस्कारों में, प्रत्येक चार वर्ष में दो से चार गणितज्ञों को फील्ड मेडल दिया जाता है। अभी तक किसी भी भारतीय को यह पुरस्कार नहीं मिला। परन्तु 2014 और 2018 में भारतीय मूल के कैनेडियन-अमेरिकन मंजुल भार्गव और आस्ट्रेलियन गणितज्ञ वेंकटश को यह पुरस्कार दिया गया। भारतीय होने के नाते हम इस बात पर गर्व कर सकते हैं। लेकिन प्रतिभा के पालन-पोषण और निर्माण की दृष्टि से देखें, तो एक प्रश्न तीर की तरह चुभता हुआ आकर लगता है। इन दोनों गणितज्ञों की प्रगति में भारत का क्या योगदान रहा? क्या भारत में पढ़कर और काम करके, ये दोनों गणितज्ञ उस मंजिल तक पहुँच पाते, जहाँ आज वे हैं? माना कि प्रश्न पूछने और सुनने में अच्छा नहीं लगता, परन्तु अपने बच्चों की शिक्षा के संबंध में हर शिक्षित भारतीय माता-पिता इस प्रकार के प्रश्नों से जूझ रहे हैं। यह समस्या केवल गणित के क्षेत्र में नहीं, बल्कि विज्ञान के क्षेत्र में भी है।

भारतीय मूल के अनेक वैज्ञानिकों ने भौतिकी, रसायन और मेडिसीन के क्षेत्र में ऐसी कोई वैज्ञानिक प्रगति नहीं की कि भारतीय वैज्ञानिक को नोबेल मिल सकता। इस स्थिति का आकलन करने पर दूसरा प्रश्न उठ खड़ा होता है कि आखिर मुख्य समस्या कहाँ है? अगर भारतीय विदेश में रहकर विश्व पर अपना प्रभाव जमाने की क्षमता रखते हैं, तो समस्या हमारे देश की शिक्षा और अनुसंधान में है। इसमें काई संदेह नहीं कि वह विदेश में रहकर ही अपने आप में एक व्यापक दृष्टिकोण पैदा करता है। विश्व में तीसरी बड़ी वैज्ञानिक शक्ति माने जाने वाले भारत का विज्ञान के क्षेत्र में सृजनात्मक योगदान नहीं के बराबर है। अब तीसरा प्रश्न। भारतीय संस्थानों में काम कर रहे वैज्ञानिकों के बारे में सहज ही यह बात मन-मस्तिष्क में आती है कि अगर हमारी ये वैज्ञानिक प्रतिभाएं विदेशों में रहकर काम करतीं, तो क्या ये आज से बेहतर कर पातीं? दूसरी ओर, अगर खेलों के क्षेत्र में देखें, तो शतरंज और बैडमिंटन आदि में हमने लाजवाब प्रदर्शन किए हैं। इस उपलब्धि का श्रेय खिलाड़ियों और उनके परिवारों की अपनी मेहनत और त्याग को जाता है। कई उदाहरण तो ऐसे हैं, जब खिलाड़ियों को सरकारी सहायता के लिए बहुत संघर्ष करना पड़ा है।

इसी प्रकार संगीत, कला और साहित्य के क्षेत्र में हमारे पास महारथी हैं। आखिर ऐसा क्या है कि हम उन क्षेत्रों में अत्यधिक उत्पादक, सृजनात्मक और मौलिक हैं, जिनमें सरकारी या निजी सहायता नाममात्र को मिली हो? जबकि स्कूल

के प्रारंभिक वर्षों से ही विज्ञान की शिक्षा दिए जाने के बाद भी, इस क्षेत्र में हम एक सामान्य स्तर तक ही पहुँच सके हैं। इसके तीन मुख्य कारण दिखाई देते हैं- (1) स्कूली शिक्षा का स्वरूप, (2) विज्ञान से संबंधित प्रशासनिक स्तर, और (3) उत्कृष्टता के विचार के प्रति हमारा सांस्कृतिक दृष्टिकोण। अगर पहले बिन्दु पर गौर करें, तो हम देखते हैं कि जहाँ पूरे विश्व के बच्चे अपनी बुद्धिमत्ता के संदर्भ में अधिक स्वतंत्र होते जा रहे हैं, वहीं हमारे बच्चे एक ट्यूशन में कदमताल कर रहे हैं। विज्ञान की शिक्षा समानाधिकारवादी नहीं है। इसका निर्माण इस प्रकार से किया गया है कि यह पृष्ठभूमि, भाषा और प्रतिभा के आधार पर बहुलता और विभिन्नता को आत्मसात् करने की बजाय लोगों को इससे वंचित कर रही है। यह सब योग्यता के नाम पर किया जा रहा है। यह विश्व-मंच पर हमें पीछे धकेल रही है।

विज्ञान से जुड़े प्रशासनिक प्रयास कोई रंग नहीं ला सके हैं। विज्ञान एवं तकनीकी विभाग द्वारा प्रदत्त निधि करोड़ों में होती है। शोध एवं अनुसंधान में लगाई गई इस राशि के लिए कोई जवाबदेही तय नहीं की जाती। अतः बड़ी-बड़ी करोड़ों रुपयों की योजनाओं का नतीजा, छोटे-मोटे क्रोध पत्रों के प्रकाशन तक सीमित रह जाता है। भारत में शोध एवं अनुसंधान के लिए निधि पाने हेतु भी योग्यता से अधिक तगड़े संपर्क-सूत्रों की आवश्यकता होती है। स्कूली चक्कर और विज्ञान से जुड़ा प्रशासन आपस में संबंधित हैं। इन दोनों की समस्या यही है कि ये दोनों ही योग्यता और उत्कृष्टता को पहचानने और संवारने में नाकाम रहते आए हैं। क्योंकि हमें स्वयं ही अपने किए काम की गुणवत्ता की जाँच पर भरोसा नहीं है। इस कारण सामान्य को ही हमने अपनी संस्कृति बना लिया है। महानता को अपने बीच में ढूंढने की बजाय हम इसे कहीं 'बाहर' ढूंढते हैं। हमने इस संस्कृति को ही उत्कृष्टता की जाँच का पैमाना मान लिया है। महानता का एक और पहलू भी है, जिसे हमने नहीं समझा है। किसी भी क्षेत्र में किया गया महान् काम, पृथकत्व के फलस्वरूप नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और एक अलग प्रकार के दृष्टिकाण के कारण संभव हो पाता है।

विज्ञान में उत्कृष्टता प्राप्त करने के लिए, समाज के एक बड़े भाग कला, साहित्य और मानविकी में उत्कृष्टता हासिल करनी होगी। परन्तु हमने तो विज्ञान के लिए एक ऐसा ताना-बना बुन दिया है, जो अपनी संकीर्णता में अन्य विधाओं के महत्व को नहीं समझता। हमारी शिक्षा प्रणाली ने विज्ञान-विद्या की तुलना में अन्य विधाओं को बिल्कुल दबा सा दिया है। कुछ बच्चे, जो अपनी नैसर्गिक प्रतिभा से अन्य क्षेत्रों में अच्छा कर सकते हैं, उन्हें विज्ञान पढ़ने को मजबूर होना पड़ता है। ऐसे अनेक कलाकार और संगीतकार हैं, जो उत्कृष्ट कार्यों के बावजूद दाने-दाने को मोहताज हैं। ऐसे मेधावी लोगों को कोई वेतन, भविष्य निधि और पेंशन नहीं मिलती, जिससे वे अपनी श्रृंखला को आगे बढ़ाते जाएं। फिर भी वे अपनी धुन में लगे रहते हैं, और भारत के औसत-अकादमिक संस्थानों से बेहतर गुणवत्ता का काम कर दिखाते हैं। यदि हमें विज्ञान को महान् बनाना है, तो हमें संगीत, साहित्य, कला, दर्शन, खेल आदि के लिए भी एक गरिमामय संस्कृति बनानी होगी। जब तक विज्ञान का दृष्टिकोण संकीर्ण रहेगा, विज्ञान की शिक्षा का प्रभुत्व बना रहेगा; और भारतीय विज्ञान प्रशासन का अव्यावसायिक दृष्टिकोण चलता रहेगा, तब तक हम विज्ञान के क्षेत्र में नोबेल या उसके समकक्ष पुरस्कारों की कल्पना नहीं कर सकते।

'द हिन्दू' में प्रकाशित सुंदर मरूकई के लेख पर आधारित। 23 अगस्त, 2018